आलोचना के प्रसंग

डॉ. सूरज पालीवाल

आलोचना के प्रसंग

डॉ. सूरज पालीवाल

अध्यक्ष

हिन्दी विभाग

जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय

जोधपुर

जोधपुर-जैसलमेर

की

रेतीली हवाओं को

जिनमें

मेरे पूर्वजों

की गंध महक रही है

प्रखर जीवन अनुभवों की अभिव्यक्ति के रूप में कहानी की अत्यन्त संवेदनशील दुनिया से अपनी साहित्यिक यात्रा आरम्भ करने वाले डॉ. सूरज पालीवाल की आलोचना के विविध आयाम हैं। उनकी आलोचना विचार की ऐसी गहरी परख करती है कि कोई भी जीवन-जगत की पड़ताल करती कृति वर्गीय आलोचना से और अधिक मुखर हो उठती है।

डॉ. पालीवाल की दृष्टि जिन मानवीय तत्वों से निर्मित हुई है वे वैयक्तिक जीवन से अलग सामाजिक जीवन से अधिक अनुप्राणित हैं इसलिये वे समाज के वृहत् और प्रगतिशील रूप के आख्याता हैं।

हिन्दी आलोचना में जो उदार भाव इन दिनों आया है डॉ. पालीवाल ने ऐतिहासिक कारणों के साथ उसकी पड़ताल की है और ऐसे आलोचकों की मानसिकता के कारणों की सतर्क व्याख्या की है।

डॉ पालीवाल रचना, आलोचना और सम्पादन की जिस बहुमुखी दुनिया से जुड़े है, उससे उनकी आलोचना और अधिक प्रखर हुई है।

प्रसंग

‘‘आलोचना के प्रसंग’’ पुस्तक में पन्द्रह आलेख संग्रहीत हैं, ये आलेख समय-समय पर लिखे गये है लेकिन इनकी धारा एक ही है। मेरे मानस में बार-बार यह विचार आ रहा था कि जाती हुई शताब्दी के अन्तिम वर्षो में प्रकाशित दस श्रेष्ठ उपन्यास पर एक पुस्तक तैयार की जाये। वह पुस्तक ऐसी हो जिसमें उपन्यासों की समीक्षा से अलग उनके महत्त्व को प्रतिपादित किया जाये। मैंने कई बार कई मंचों से यह बात उठाई है कि क्या कारण हैं जो लम्बे समय के बाद इतने अच्छे उपन्यास लिखे गये ? मैं उन कारणों की तलाश करते हुए लिखना चाहता था-कुछ आलेख लिखे भी हैं जो इसी पुस्तक में है। लेकिन मित्रों के व्यक्तिगत दबाव और मित्र-पत्रिकाओं के प्रति दायित्व ने और भी कई आलेख इस बीच लिखवाये-जो भिन्न विधा और भिन्न मनःस्थिति में लिखे होने के बावजूद मेरी अपनी ही बात की पुष्टि करने में सहायक हुए हैं।

‘‘दस्तक’’ के सम्पादक भाई राघव आलोक के मनुहार-भरे पत्र न मिलते और वे समय-समय पर चैतन्य न करते तो बहुत कुछ अधूरा रह जाता। ‘‘वर्तमान साहित्य’’ के अपने परिवारीजनों ने अपना व्रत-भंग करते हुए 'शताब्दी विशेषांकों' के लिये आलेख लिखवाये। "कृति ओर’’ के सम्पादक और वरिष्ठ कवि विजेंद्र जी कहते नहीं थकते कि मुझे खूब लिखना चाहिये-खूब कितना लिखना चाहिये, यह तो नहीं जानता पर जब भी लिखा वे आश्वस्त हुए है। 'संबोधन', 'कहन', 'वसुधा', 'मधुमती', 'उद्भावना', 'हंस', 'कथादेश' एवं 'माजरा' के साथी सम्पादक निरन्तर लिखने को प्रेरित करते रहे और मैं अपनी सारी व्यस्तताओं के बावजूद उनके आदेशों की अनुपालना में लिखता रहा-जो मेरे लिये अत्यन्त प्रीतिकर है।

यह पुस्तक जिस रूप में तैयार हुई है, वह पाठकों को कितना कुछ दे सकेगी-नहीं जानता, पर आशा करता हूँ कि सहृदय पाठकों को नया कुछ भी दे सकी तो अपने श्रम और दृष्टि की सफलता मानूंगा। गुरुवर प्रो. कुंवरपाल सिंह तो मेरी आलोचना-दृष्टि के मूल में बीज-रूप में हैं जो कुछ भी पल्लवित हो रहा है-सब उसी बीज का सुफल है। जोधपुर के साहित्यिक मित्रों ने लगातार लिखने को प्रेरित किया-आभार प्रदर्शन कहीं कम और औपचारिक तो नहीं होगा ? जनवादी लेखक संघ का अध्यक्ष होने के नाते नये और पुराने मित्रों से जो निरन्तर संवाद की स्थिति

बनी रहती है, उससे सीखने को खूब मिलता है-उनका यह सखाभाव वैसा ही बना रहेगा, कामना करता हूँ।

प्रिय बेटी सलोनी लिखते-पढ़ते देखकर सबको डांटती रही कि स्टडी में कोई व्यवधान पैदा न करे - वह अभी से जानती है लिखने-पढ़ने का महत्त्व, यह देखकर बहुत अच्छा लगता है। शोभा को भी धन्यवाद दूं, लेकिन कैसे ?

-डॉ. सूरज पालीवाल

अनुक्रमणिका

- इक्कीसवीं शताब्दी और साहित्य का सच 7
- बूंद और समुद्र : शहरी मध्यवर्गीय परिवारों का सघन चित्र 14
- वैचारिक मुठभेड़ के बीच एक उपन्यास 22
- उपन्यास में इतिहास की खोज 35
- देह-सम्बन्धों में नारी मुक्ति की तलाश 45
- अतीत से आगे झांकती आँखें 59
- समकालीन कहानी और वर्गीय दृष्टि 71
- लोकोमुख आलोचना की परम्परा 79
- एब्सर्डिटी का दर्शन विधान 87
- दुर्निवार जीवन-विकट की कविताएं 94
- टटकी और खिलंदड़ी भाषा 101
- साम्प्रदायिक दंगे : इतिहास और मनोविज्ञान 110
- समाज, संस्कृति और आधुनिकता 121
- सवाल खड़े करती लड़की 130
- प्रभावशाली विचार से सहमा गद्य 137

इक्कीसवीं शताब्दी और साहित्य का सच

इक्कीसवीं शताब्दी के प्रति हमारी आकुलता-व्याकुलता पश्चिमी देशों के अघाये हुये लोगों की तरह हैं। कहीं हम उस षड्यंत्र के शिकार तो नहीं हो रहे जो गरीबों के आखिरी निवाले को छीनने के लिये बेशर्मी से अपने छद्म उत्पादों का प्रचार-प्रसार कर रहा है। दूरदर्शन के एक विज्ञापन में एक नेतानुमा आदमी अपनी नाराज प्रजा से कहता है कि कहां है गरीबी, देखो अब एक रुपये में सेंपू मिल रहा है और खिल्ल से शर्महीन हंसी हंसता है। यह सेंपू एक उदाहरण है कि हमारे सरोकार कितने बदल गये हैं और हमारे नेताओं की बेशर्मी किस कदर बढ़ती जा रही है। जिस चीज का विज्ञापन कर रहे हैं उसे हिंदुस्तान में केवल दो प्रतिशत जनता ही प्रयोग करती है लेकिन फिर भी कर रहे हैं और यह मानकर कर रहे है कि वे सही है।

इक्कीसवीं शताब्दी और साहित्य को लेकर हिंदी में लगातार गोष्ठियां हो रही हैं और मंचों पर लगभग एक ही भाषा बोली जा रही है कि साहित्यकारों के सामने संकट और बढ़ रहा है, जिससे होशियार रहने की आवश्यकता है। उनकी नजरों में यह संकट बाहरी है और इतना ऊपरी है कि शब्दों में न कोई असर है और न वाणी में दम। यह क्या कारण है कि समस्त हिंदी-भाषी विद्वान एक ही भाषा बोलने लगे है। जबकि जनता उस भाषा से अनभिज्ञ है। हिन्दी का अदना-सा पाठक जो बड़ी शिद्दत से पत्रिकाओं का इंतजार करता है और बड़े चाव से उन्हें पढ़ता है उसकी समझ में वह भाषा नहीं आती। वह उन प्रवचनों को पढ़कर अपने आसपास को देखता है और पाता है कि जो समस्याएं हमारे विद्वान बता रहे हैं उनसे अलग और डरावनी चीजें उसके आसपास रोज घटित हो रही है। तो क्या हम किताबों में ऐसे खो गये हैं कि अपने समाज और अपने पाठक-वर्ग को ही भूल गये है ? पुस्तकों की कम बिक्री और पत्रिकाओं की प्रसार संख्या में निरन्तर होती जा रही कमी का यही कारण नहीं है ?

इस बीच मैं भी दो-चार जगहों पर ऐसी गोष्ठियों में बुलाया गया हूँ और मैंने देखा है कि मंचों से या तो हम मूर्खतापूर्ण बातें करते हैं या इतनी दंभपूर्ण जैसे सारी दुनिया का ज्ञान हमें ही है और सामने बैठे हिन्दी के पाठक, लेखक और जिज्ञासु कुछ नहीं जानते। एक ईमानदार संवाद जो इस संधिकाल में होना चाहिये-वह नहीं हो रहा